The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 4 | Issue 6 | June 2026
ISSN: 2583-973X (Online), SJIF IF(2026): 5.6
Website: www.theacademic.in

दलित महिला आत्मकथाएं और पितृसत्तात्मक समाज के वर्चस्व की अभिव्यक्ति

सीमा सिंह

शोधार्थिनी, हिंदी विभाग, प्रो० राजेन्द्र सिंह (रज्जू भैया) विश्वविद्यालय, प्रयागराज, उत्तर प्रदेश

डॉ० सृष्टि कुशवाहा

सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, मदनमोहन मालवीय पी०जी० कॉलेज, कालाकांकर, प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश

DOI : https://doi.org/10.5281/zenodo.21444464

ARTICLE DETAILS

Research Paper

Received: 12-05-2026

Accepted: 29-06-2026

Published: 15-07-2026

Keywords:

दलित साहित्य, आत्मकथा, पितृसत्ता, वर्ण-व्यवस्था, महिला

ABSTRACT

दलित महिला आत्मकथाओं में वर्णवादी व्यवस्था के क्रोड़ में विराजमान पितृसत्तात्मक समाज का प्रभाव स्त्री के अधिकारों को रौंदने का कार्य करता है। पुरुष अपनी आजादी से समझौता नहीं करता है लेकिन पितृसत्तात्मक समाज के द्वारा थोपे गये कठोर आचरण की संहिता से स्त्री को ही दो-चार होना पड़ता है। यहाँ पितृसत्तात्मक समाज की मंशा रहती है कि धार्मिक वर्चस्व उसके ही हाथ में रहे। मनुवाद की यह व्यवस्था स्त्रियों को धार्मिक क्रियाकलाप, अनुष्ठान आदि करने से निषेध करती है। मृत्यु उपरान्त चिता का दाह करना स्त्री के लिए निषेध घोषित किया गया है। हिन्दी दलित महिला आत्मकथाओं में स्त्री के जीवन को लेकर एक व्यापक दर्शन मौजूद है। यही जीवन दर्शन उसके किरदार को अलग करता है।

शोध-विस्तार

पितृसत्तात्मक समाज में नारी की भूमिका विरोधाभास में फँसी प्रतीत होती है। ऐसा क्यों कहा जा रहा है कि विरोधाभास है? नारी को पितृसत्तात्मक समाज देवी, पूजनीय आदि अभिहित करता है, तो दूसरी ओर डायन, कुलटा, नरक का द्वार कहने से भी गुरेज नहीं है। जाति और लैंगिक भिन्नता के कारण स्त्री पितृसत्तात्मक समाज से मुक्त होने की इच्छा रखती है। पितृसत्तात्मक समाज उसे खुलकर जीने की आजादी से वंचित रखना ही चाहता है। साहित्य और समाज के आवश्यक विमर्शों की आहट ये बताने का प्रयास करती है कि दलित स्त्री की भूमिका संघर्षशिला के रूप में है।

Disclaimer: The opinions, interpretations, conclusions, recommendations, analyses, and statements expressed in this research article are solely those of the author(s) and do not reflect the views, policies, or positions of the Publisher, Chief Editor, Editors, Editorial Board, Reviewers, or their affiliated institutions. The author(s) are solely responsible for ensuring the originality, authenticity, and integrity of the manuscript and for ensuring that it is free from plagiarism, AI-generated content, copyright infringement, data falsification, and any other form of academic misconduct.

सम्पूर्ण दलित साहित्य ही भोक्ता की पीड़ा का आख्यान है। दलित स्त्री की वेदना पुरुष समाज से कमतर नहीं है। पितृसत्तात्मक समाज में नारी को लेकर चरित्र गढ़े गये हैं। उसमें शूर्पणखा, द्रौपदी, सावित्री आदि। अपने लिए कुछ नहीं स्वयं को आहूत कर दो तो सावित्री, कुल मर्यादा का लंघन होने पर सूर्पणखा। ये सब पितृसत्तात्मक समाज के दोहरे चरित्र का उदाहरण है।

वर्णव्यवस्था और पितृसत्तात्मक समाज के वर्चस्व पर अपने विचार उमा चक्रवर्ती कुछ इस तरह रखती हैं **"यह वस्तुतः नियमों और संस्थानों का पुंज है जिसमें जाति और लिंग एक-दूसरे में गुंथे हुए हैं, वे एक-दूसरे का स्वरूप तय करते हैं और स्त्री जातियों के बीच विभाजन बनाये रखने के लिए बतौर साधन इस्तेमाल होती है। इसने ऐसे कायदे बनाये रखे हैं कि सीमाबद्ध विवाहवृत्तों की पदानुक्रमता का उल्लंघन हुए बिना जाति व्यवस्था पुनरोत्पादन होता रहे। इसके साथ ही स्त्रियों के लिए प्रस्तावित ब्राह्मणवादी कायदे जातियों की स्थिति सापेक्ष हैं। यानी जातियों के पदानुक्रम में किसी जाति की जो स्थिति है और उससे जो हैसियत बनी है उसी के अनुसार उसके स्त्रियों के लिए ब्राह्मणवादी पितृसत्ता ने कायदे निश्चित कर रखे हैं। इसमें स्त्रियों की यौनिकता पर कठोर नियंत्रण का अधिकार ऊँची जातियों के पास हैं। यह पतिव्रता और साध्वी स्त्रियों का महिमा मंडन करता है और नियमों और संस्थानों के माध्यम से सहमति अथवा दमन के आधार पर जाति की पदानुक्रमता और लिंग असमानता बनाये रखता है।"**[i]

उपर्युक्त के माध्यम से कहा जा सकता है कि पितृसत्तात्मक समाज ने अपने वर्चस्व को कायम रखने के लिए स्त्री के लिए आचार संहिता अपने हितानुसार निर्माण की है। स्त्री को लेकर दोहरा आचरण पितृसत्तात्मक समाज में व्याप्त है। कहीं पूजनीय, कहीं कुलटा, कहीं डायन तथा कहीं-कहीं पौराणिक-ऐतिहासिक चरित्रों को ध्यान में रखकर मंथरा, कैकेयी आदि भी सम्बोधन सुनने को मिलते हैं। स्त्री सदैव परतंत्र ही रहे तथा पुरुष की इच्छा अनुसार ही चले ऐसा पितृसत्तात्मक समाज के केन्द्र में है। स्त्री को शृंखलाबद्ध करने के षड्यंत्र को नितिन गायकवाड़ उजागर करते हैं **"भारत में वर्णाश्रम संस्कृति के कारण मनुष्य जीवन में हिन्दू धर्म का प्रभाव दिखाई देता है। इस धार्मिक प्रभाव से निजात पाना मुश्किल दिखाई दे रहा है, क्योंकि धर्म को मनुष्य से श्रेष्ठ घोषित किया गया है और इस अतार्किक घोषणा के कारण मानवीय मूल्यों को अनदेखा किया जा रहा है। इतिहास गवाह है कि सृष्टि में स्त्री की अहमियत पुरुष के समान रही है लेकिन हिन्दू धर्म में इस सच्चाई को बिल्कुल जगह नहीं देता है। स्त्री जन्म से लेकर मृत्यु तक पुरुष वर्चस्व को झेलती आ रही है। स्त्रियों के इस गुलामी के पीछे हिन्दू धर्म के शास्त्रों की बड़ी भूमिका रही है।"**[ii]

नितिन गायकवाड के अनुसार पितृसत्तात्मक समाज विचारधारा के पोषण में धार्मिक ग्रंथों की भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता है, अपितु इसके योगदान में बढ़ावा इन्हीं के द्वारा दिया गया है।

पितृसत्तात्मक समाज की ये सोच होती है कि वह सारी व्यवस्था पर काबिज होना चाहता है। पितृसत्तात्मक समाज स्त्री का परवश होना स्वीकार करता है। उसे तरह-तरह के बंधनों में बँधे रखने की इच्छा सदैव रहती है। किसी भी

स्त्री को वैधव्य होना उसके वश में नहीं लेकिन पितृसत्तात्मक सोच उसे हीन से हीनतर की मनोदशा में धकेल देती है। स्त्री का अपना अस्तित्व, अपनी उपस्थिति को पितृसत्ता हमेशा ही नेपथ्य में रखने की पक्षधर है। स्त्री का बंध्या और विधवा होना उसकी कमी मानकर उसके हिस्से में केवल प्रताड़ना ही आती है।

दलित महिला आत्मकथाओं में भी सुधार की संभावनाओं को ही लगभग उपेक्षित ही किया गया है। इस मामले पर अपनी प्रतिक्रिया तनिका सरकार खुलकर देती हैं **''इस आम धार्मिक पुनरुत्थान के दौर में ऐसे कर्म-काण्डों पर कम ही ध्यान जाता है जो महिलाओं की हीनता को पुष्ट या पुनः जीवित करते हैं, मिसाल के तौर पर नाना तरह के व्रत, विवाह या जन्म, संस्कार और ऐसी ही महिला रीतियाँ जो उनमें हीनता की भावना पैदा करती हैं।''**[iii] जहाँ परम्पराएँ बदलने से नारी की दशा-दिशा बदली जा सकती है। उसका स्तर उठाया जा सकता है लेकिन एक चिंतन से बँधा समाज इसे उदार होकर स्वीकार नहीं करना चाहता है। पितृसत्तात्मक समाज अपने अनुसार उसे एक खाँचे में बैठाता है। दलित महिला आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक समाज की ही सोच कहना उचित होगा कि घर में केवल बेटे का ही जन्म हो। ऐसा करने के लिए बार-बार प्रसवकाल से गुजरना पड़े तो कोई समस्या नहीं है।

पितृसत्तात्मक समाज ये तय करता है कि स्त्रियों में मनुष्यता का नहीं अपितु गूँगे-बहरे जीव का होना पाया जाता है। पुरुष का वर्चस्व उसे सर्वथा मुख्यधारा से बाहर धकेलने की कोशिश में लगा रहता है। सुशीला टाकभौरे इसी बात को इंगित करती है **''समाज में लड़कियों पर बहुत से बंधन लगाये जाते हैं। श्रम और संघर्ष करने के बाद भी उन्हें समानता-स्वतंत्रता का अधिकार नहीं मिलता था। लड़कियों के प्रति समाज में ऐसी भावना हिन्दू धर्मग्रंथों के आधार पर उन्हें अबला मानने के फलस्वरूप थी। अबला लड़कियों को सबला बनाने की भावना नहीं थी। धर्म और आदर्शों के त्याग-बलिदान की शिक्षा के साथ उन्हें शारीरिक और मानसिक रूप से हमेशा कमजोर बनाया गया।''**[iv] सुशीला टाकभौरे पुरजोर तरीके से पितृसत्तात्मक समाज को लक्ष्य करती हैं तथा सम्पूर्ण व्यवस्था को ही सवालों से घेर लेती हैं **''माँ सबका ध्यान रखती थी। अधिक मेहनत मजूरी करके पैसे जोड़कर उसके लिए घी खरीद कर लाती। दूध और अंडा छिपाकर उसे देती। माँ पर गुस्सा आता, मुझे घी क्यों नहीं देती? मैं चुपके से निकालकर खाती थी। तब चोरी का भाव नहीं रहता था, साहस का भाव रहता था- ''मैं अपना हिस्सा खा रही हूँ। हाथ से नहीं दोगे तो हम ऐसे लेकर खायेंगे।'' पिता और भाइयों का माँ अधिक ख्याल रखती थी, इस बात पर में माँ से झगड़ा करती थी।''**[v] यहाँ पर लेखिका ने अपने परिवार में ही पितृसत्तात्मक समाज की एक झलकी प्रस्तुत की है। लोक जीवन में भी पितृसत्तात्मक समाज का कब्जा देखा जा सकता है। यहाँ पितृसत्तात्मक समाज से प्राप्त पीड़ा को उर्मिला पंवार लिखती हैं **''घेरा बनाकर गोल-गोल घूमते हुए चुटकियाँ बजाती गीत-गाती और नाचती थीं। उन गीतों में भी उन्ही के कठिन जीवन की कहानी होती थी। कोई मीठे गले वाली पहली पंक्ति गाती- पीछे बाकी सब सुरमें सुर मिलाती थीं।''**[vi] पितृसत्ता नारी पर पूरी तरह से काबिज रहने की चाह में उसके रोये-रेशे को भी वश में करने का प्रयास करता है।

पितृसत्तात्मक समाज हमेशा ये नजर बनाये रखता है कि नारी क्या ओढ़ रही है? क्या पहन रही है? क्या बोल रही है? थोड़ा भी इतर होने पर उसे एक शंका घेर लेती है। वह उसे अपने कब्जे में लेने के लिए फड़फड़ा उठता है। अपनी इच्छाओं के दमन पर सुशीला टाकभौरे पितृसत्तात्मक समाज को सच दिखाने का प्रयास करती हैं **''शिकंजा एक नहीं, कई थे। उन शिकंजों की जकड़न से जूझते हुए मैं किस तरह पढ़ सकी? किस तरह आगे बढ़ सकी? यह मेरी लंबी कथा है। शिकंजे तब भी थे, दर्द तब भी था। शिंकजे के दर्द की कथा चल रही है जिंदगी के साथ-साथ।''**[vii]

लम्बे समय से पितृसत्ता की अक्षुण्णता में कुछ स्त्रियों की भूमिका को भी नकारा नहीं जा सकता है। पुरुष समाज इसे एक हथियार के रूप में काम में लाता है। ये होती हैं घर की वृद्ध महिलाएँ या रिश्ते में बड़ी महिलाएँ, यथा- नानी, दादी, बुआ, मौसी आदि। वरिष्ठ आलोचक प्रो० देबेन्द्र चौबे इस ओर ध्यान दिलाते हैं **''यह भी एक अजीब विडंबना है कि भारतीय खासकर हिन्दू समाज में महिलाएँ, अपने परिवार की वरिष्ठ महिलाओं द्वारा स्वयं शोषित और दमित होने के लिए बाध्य होती है। परिवार की वरिष्ठ महिलाएँ जो आमतौर पर 'सास' होती हैं, अपने पुत्र या पुरुष समुदाय को इस बात के लिए प्रेरित करती हैं कि अपनी स्त्री को काबू में रखें तथा इसके लिए कभी-कभी उसे शारीरिक यातना भी दिया करें। ऐसा वे इसीलिए करती हैं जिससे कि परिवार की स्त्रियों पर उनका रौब-दाब तथा स्वतंत्र शासन कायम रहे। इन दमित स्त्रियों की स्थिति उस समय और खराब हो जाती है, जब वे प्रजनन की प्रक्रिया में लड़के के बदले लड़की जनती है।''**[viii] समाजशास्त्री लीला दुबे स्त्री स्वतंत्रता और पुरुष के वर्चस्व पर अपनी बात साझा करती हैं **''घर और मौहल्ले से दूर होने की स्थितियों में पुरुषों में सहभोजिता के नियमों प्रति बेपरवाह होने की प्रवृत्ति अधिक होती है। लेकिन ऐसी ही स्थितियों में स्त्रियों की हिफाजत तथा निगरानी ध्यानपूर्वक की जाती है। उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे इन नियमों का कठोरतापूर्वक पालन करें। पुरुषों के बारे में समझा जाता है कि उन्हें तो हर तरह के लोगों के साथ उठना-बैठना होता है। स्त्रियों को ऐसी स्वतंत्रता आसानी से नहीं मिलती है।''**[ix] लीला दुबे पितृसत्तात्मक समाज के उस रूप को अभिव्यक्त करती हैं, जिसमें वह स्त्री की आजादी में बाधक का कार्य करता है। इसे सौ फीसदी सच मानना चाहिए कि पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री को पराधीन रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी है।

निष्कर्ष

हिन्दी दलित महिला आत्मकथाओं में इस बात पर जोर दिया गया है कि पितृसत्तात्मक समाज को चुनौती देना एवं उसका प्रतिकार करना ही पितृसत्तात्मक वर्चस्वशाली को भेदा जा सकता है। पुरुष प्रधान समाज स्वयं को केन्द्र में रखकर स्त्री को शोषित करने के अलावा कुछ भी नहीं सोचता है। दलित महिला आत्म कथाकारों ने इस बात को सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि सदियों से सड़ी-गली परम्पराओं का खंडन ही पुरुष एवं पितृसत्तात्मक समाज के चंगुल से बाहर निकाल सकता है। वर्चस्वशाली सत्ता के केन्द्रीय बिन्दु पितृसत्तात्मक समाज में परिवर्तन हेतु विशिष्टता बोध से बाहर निकलकर स्त्री को स्वयं का स्थान बनाना पड़ेगा। कोई भी वर्चस्व स्वयं समाप्त नहीं होता है, उसे समाप्त करने के लिए सतत् संघर्ष आवश्यक है।

सन्दर्भ

[i]. उमा चक्रवर्ती, जाति समाज में पितृसत्ता, पृ॰सं॰ 40

[ii]. नितिन गायकवाड़, दलित साहित्य मानवीय अधिकारों का महायुद्ध, पृ॰सं॰ 174

[iii]. तनिका सरकार, नारी जीवन में धर्म और जाति, पृ॰सं॰ 197

[iv]. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ॰सं॰ 38

[v]. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ॰सं॰ 66

[vi]. उर्मिला पंवार, आयदान, पृ॰सं॰ 39

[vii]. सुशीला टाकभौरे, शिकंजे का दर्द, पृ॰सं॰ 17

[viii]. देवेन्द्र चौबे, नए संघर्ष की अवधारणाएँ और हाशिये का समाज, पृ॰सं॰ 35

[ix]. लीला दुबे, लिंग भाव का मानव वैज्ञानिक अन्वेक्षण: प्रतिच्छेदी क्षेत्र, पृ॰सं॰ 162